

○.....  
 दुनिया के सभी समाजों में धर्म की अपनी जगह है। यह रोजमर्रा की जिन्दगी का गहन हिस्सा है। बावजूद इसके 'धर्म' शिक्षा का हिस्सा नहीं है। स्वीकार या अस्वीकार के पीछे कौन से प्रश्न निहित हैं? धर्म को शिक्षा का हिस्सा बनाया जाये तो किस प्रकार की समस्याएं आयेंगी? क्या बच्चों के साथ धार्मिक सत्यों की चर्चा की जा सकती है? और यदि धार्मिक सत्यों की चर्चा होगी तो प्रमाणीकरण के प्रश्न भी उठेंगे। इस प्रकार के सवालों को उठाते हुए प्रस्तुत लेख में खण्डन मण्डन विधि से विमर्श को आगे बढ़ाया गया है।

.....○

## सरकारी स्कूलों में धर्म की शिक्षा के सवाल और निहितार्थ

□ सुजेन रॉजेनब्लिथ एवं स्कॉट प्रीस्टमैन  
 अनुवाद - चंदन श्रीवास्तव

इस आलेख में चर्चा का विषय है कि सरकारी स्कूलों में 'धर्म' की 'पढ़ाई' होनी चाहिए या नहीं और अगर होनी चाहिए तो किस तरह? यहाँ हमारा मुख्य सरोकार सत्य की धारणा से है और इस बात से भी कि धर्म को लेकर होने वाली शैक्षिक-चर्चाओं में इस धारणा के साथ क्या बर्ताव अपेक्षित है? धर्म और सत्य के सवालों को सरकारी स्कूलों की कक्षाओं में उठाना विवाद की गुंजाइश पैदा करता है और इन मुद्दों को उठाने से कई समस्याएं सामने आ सकती हैं। लेकिन हम शिक्षादाताओं को यह भी सोचना चाहिए कि अगर हम धार्मिक सच की किसी भी चर्चा से सीधे-सीधे इंकार करते हैं तो उस सूरत में हमारी सरकारी शिक्षा-व्यवस्था में कौन-कौन सी समस्याएं मौजूद रहती है। इस बात को दूसरी तरह से ऐसे भी पूछा जा सकता है कि धर्म के भीतर मौजूद सत्य की दावेदारी को आलोचनात्मक ढंग से जांचने-परखने के तरीके विकसित करने के क्या फायदे हैं? कुछ लोगों का मानना है कि धार्मिक सत्य पर विचार करने की बात सोचना ही अपने आप में भारी भूल है। हमें इस बात का पूरा ख्याल है कि अनेक धर्म-विश्वासियों के लिए धर्म सत्य की दावेदारी का कोई चौखटा भर नहीं है बल्कि हमारा मानना है कि इस बात की जांच जरूरी है कि सत्य के सवाल को सीधे-सीधे परे कर देने से क्या हानि हो सकती है? हाल-फिलहाल नीतिशास्त्र के क्षेत्र में जो अध्ययन मनन चल रहे हैं, हमने उन्हीं बातों से प्रेरणा ली है। हमारे बहुलतावादी समाज में नीतिशास्त्र भी धार्मिक-शिक्षा के समान पर्याप्त रूप से विवादास्पद शैक्षिक-मुद्दा है। बहुत से समकालीन नीतिशास्त्री और शिक्षादाता नैतिक सिद्धांतों को दुनिया की वास्तविक नैतिक-समस्याओं के समाधान रूप से विवादास्पद समाधान में सहायक न पाकर उनसे अब दूर जा रहे हैं।

इन सिद्धांतों के बदले ये सिद्धांतकार प्रक्रियावादी पद्धतियों को अपना रहे हैं।' इन पद्धतियों के भीतर एक खास विचार यह निहित है कि नैतिक-समस्याओं पर विचार करते हुए किस तरह के चिंतन-मनन को बेहतर चिंतन-मनन कहेंगे? इस विचार को कभी तो साफ-साफ सवाल के रूप में सामने रखा जाता है और कई मामलों में नहीं भी रखा जाता। दूसरे शब्दों में कहें तो इन पद्धतियों की मुख्य चिंता यह परिभाषित करने की है कि नैतिक-समस्याओं पर विचार करने के क्रम में किसे एक अच्छा और आलोचनात्मक विवेक से संपन्न चिंतक कहा जा सकता है?

इस आलेख का मुख्य सवाल यह है कि क्या धार्मिक विचार-जगत में भी अच्छे चिंतन के मूल्यांकन की ऐसी ही कसौटी हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हम इससे जुड़े हुए तीन सवालों पर विचार करेंगे। पहला सवाल यह कि क्या धर्म को सरकारी स्कूलों में पाठ्यक्रम (कैरिकुलम) का हिस्सा बनाया जाय? दूसरा सवाल यह कि अगर धर्म को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया जाता है तो क्या इसमें 'सत्य' के दावों पर बहस को शामिल करना उचित है? तीसरा, यदि सत्य की धारणाओं पर चर्चा होती है तो क्या उस कसौटी पर खरा उतरा जा सकता है, जो धर्म के विचार-जगत में 'अच्छा चिंतक' बताने के लिए तय की गई है? इस आलेख को तीन खंडों में बांटा गया है। पहले खंड में लेखक नं. '1' ने इस बात के पक्ष में तर्क दिए हैं कि हमारे सरकारी स्कूलों के पाठ्यचर्या में 'धर्म' को शामिल किया जाना चाहिए और हमारे लिए बेहतर यही है कि हम इसमें से सत्य की धारणाओं की चर्चा को नजरअंदाज न करें। दूसरे खंड में लेखक नं. '2' ने लेखक

नं. '1' के तर्कों का प्रतिवाद करते हुए यह सवाल उठाया है कि जो प्रश्न उठाए गए हैं, वे क्या सचमुच समस्यामूलक हैं? तीसरे खंड में दोनों लेखक वाद-विवाद के बाद संवाद की साझी जमीन पर खड़े होकर इन मुद्दों के संदर्भ में कुछ संभावित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं।

**सरकारी स्कूलों में धार्मिक-शिक्षा को शामिल करने के पक्ष में तर्क : लेखक नं. '1' समस्या क्या सरकारी स्कूलों में धर्म की पढ़ाई होनी चाहिए?**

अधिकांश गणनाओं का निष्कर्ष है कि 10 में से 9 अमरीकी आस्तिक हैं। वे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं।<sup>1</sup> हालांकि इन गणनाओं से यह नहीं पता चलता कि जिस ईश्वर के अस्तित्व पर 10 में से 9 अमरीकियों को विश्वास है, उस ईश्वर का स्वरूप क्या है? अथवा स्वयं इन आस्तिक अमरीकियों की धार्मिक पहचान क्या है? किन्तु इन गणनाओं के आधार पर यह मानना तर्क-संगत है कि धर्म किसी न किसी रूप और स्तर तक अमरीकियों के लिए महत्वपूर्ण है। इन गणनाओं से यह बात विचित्र लगती है कि बहुसंख्यक लोग आस्तिक हैं और अपने को किसी न किसी धार्मिक-परंपरा का अंग मानते हैं, तो भी सरकारी स्कूलों में धर्म को अध्ययन-अध्यापन का विषय नहीं बनाया गया है। यह बात तो सुनिश्चित है कि धर्म की पढ़ाई इतिहास की बहुत-सी कक्षाओं में होती है, मसलन- अंग्रेजी के इतिहास और कला के इतिहास की कक्षाओं में। अपनी पुस्तक 'कल्चर ऑव डिसबिलीफ' में स्टीफेन कार्टर ने जॉन बुखानन के हवाले से लोगों को अमरीकी जीवन-दर्शन के बारे में बताया है- "आप चाहें कि इतिहास का सही-सही चित्रण भी हो और धर्म को छोड़कर हो तो यह संभव नहीं है।"<sup>2</sup> लेकिन जैसा कि फ्रांसिस क्रेग ने ध्यान दिलाया है- 'उपर्युक्त संदर्भ में विचार का बिन्दु यह नहीं कि धर्म को स्कूली पाठ्यचर्या में शामिल किया जाये या नहीं, बल्कि यह है कि इतिहास, साहित्य अथवा कला जैसे विषय को ठीक-ठीक पढ़ाने के लिए धर्म की पढ़ाई जरूरी है?'<sup>3</sup> यहां मेरा निवेदन यह है कि अगर धर्म को स्कूल की औपचारिक पाठ्यचर्या में जगह मात्र इसलिए मिलती है कि इतिहास, साहित्य और कला जैसे विषयों को ठीक-ठीक पढ़ाया जा सके तो यह एक दिक्कत तलब बात है। ईमानदारी से कहें तो कोलंबाईन तथा जोनेसबोरो के उच्च विद्यालयों की दुर्घटनाओं को देख-समझकर कुछ लोगों ने सरकारी स्कूलों में ज्यादा से ज्यादा धार्मिक अथवा आध्यात्मिक शिक्षा को शामिल करने की मांग की है। ऐसी मांग रखने वाले दलील देते हैं कि अगर छात्रों को धार्मिक-आध्यात्मिक प्रशिक्षण दिया जाय तो ऐसी दुर्घटनाएं नहीं होंगी। अब यह बात कहां तक ठीक है यह तो अनुमान का मामला है। लेकिन यह दलील देना कि दुर्घटनाओं को रोकने के लिए 'धर्म' की शिक्षा को पाठ्यचर्या में

शामिल किया जाय बहुत सुसंगत दलील नहीं है। इसका एक अर्थ यह भी निकलता है कि अगर दुर्घटनाओं की संभावना नहीं होती तो हमें धार्मिक-शिक्षा की जरूरत नहीं पड़ती। 'धर्म' की पढ़ाई को इस तरह शर्तबंदी के दायरे में रखना मेरी समझ में समस्या से खाली नहीं। ये सारे तर्क कि अन्य विषयों की पढ़ाई को बेहतर बनाने के लिए धर्म की शिक्षा दी जाये अथवा धार्मिक-शिक्षा जरूरी है क्योंकि यह छात्रों को अपने मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक खालीपन से उबारने में सहायक होगी- थोड़े संकुचित तर्क हैं। इस बात पर बहुत कम ध्यान दिया गया है कि धार्मिक-शिक्षा को पाठ्यचर्या में शामिल करना स्वयं उसके अपने गुणों के कारण जरूरी है अथवा इसलिए जरूरी है क्योंकि इससे छात्र की पढ़ाई के अनुभवों में संपूर्णता आती है।

इसके अतिरिक्त हम यह भी देखें कि हमारे सरकारी स्कूलों में पिछले कई दशकों से सांस्कृतिक-बहुलतावाद पर बड़े ठोस रूप से ध्यान दिया जा रहा है। ऐसे में यह बात अपने आप में संगीन है कि सहहिष्णुता और आदर के ये भाव भरे मुहावरे तथा विचारधारा अभी भी 'धर्म' को अपने से दूर ही रखती है। जो नजरिए अथवा आवाजें बहुत दिनों से एक हाशिए पर पड़ी रही हैं उन्हें फिर से स्थापित किया जाए- इस इच्छा के पीछे यह विश्वास काम करता है कि ये आवाजें और नजरिए कुछ न कुछ योगदान दे सकती हैं; साथ ही इन आवाजों और नजरियों को शामिल नहीं करने का अर्थ होगा कि हम इनके मानने वालों को अधिकार-वंचित कर रहे हैं। इस स्थिति को देखते हुए यह बात और घृणित जान पड़ती है कि सहमेल के इस पुरजोर वक्त में 'धर्म' को देहरी से बाहर ही रखा जाय। अगर हम इस तरह की धार्मिक वंचना (?) की अनदेखी करते हैं तो हम अपने स्कूलों में सिर्फ उस नजरिये या विचार को मानने वालों के साथ धोखा नहीं कर रहे बल्कि यह कहना ज्यादा संगत जान पड़ता है कि हम धर्म पर विश्वास नहीं रखने वालों के साथ कहीं ज्यादा ठगी कर रहे हैं। धार्मिक लोगों को कम से कम स्कूल के बाहर कुछ न कुछ धार्मिक-शिक्षा प्राप्त तो होती है, जबकि धर्म पर विश्वास न करने वालों को यह शिक्षा कहीं नहीं मिलती।<sup>4</sup> हमारे सरकारी स्कूल हर हाल में निम्नलिखित लक्ष्यों को समर्पित हैं- 1. छात्रों को युक्तियुक्त और आलोचनात्मक विवेक से संपन्न चिंतक बनाने में सहायक होना, 2. छात्रों को एक परिपक्व नागरिक के रूप में गढ़ने में सहायता देना ताकि वे लोगों का आदर कर सकें। 'धर्म' की पढ़ाई को शामिल न करके सरकारी स्कूल इन दो लक्ष्यों को हासिल करने की अपनी क्षमता को कम कर रहे हैं। यह बात विद्वानों की नजर में आयी है। इसी कारण अनेक विद्वानों ने इसके पक्ष में तर्क देना शुरू किया है। इन विद्वानों ने सरकारी स्कूलों में धर्म की पढ़ाई को शामिल करने से बावस्ता प्रस्ताव और

तर्क प्रस्तुत किए हैं। धर्म की पढ़ाई को सरकारी स्कूलों की पाठ्यचर्या में शामिल करने के लिए वारेन नॉर्ड तथा नेल नॉर्डिंग्स ने दो मजबूत प्रस्ताव रखे हैं। आगे हम यह चर्चा करेंगे कि इस विषय पर इन दो विद्वानों के मतव्य क्या हैं?६

यद्यपि दोनों प्रस्तावों में अलग-अलग बातों पर जोर दिया गया है, किंतु दोनों प्रस्तावों की बुनियाद और विश्वास एक है। वह विश्वास यह कि नस्ल और एथनीसिटी (पुरा-जातीयता) के समान, धर्म का अध्ययन मात्र इसलिए महत्वपूर्ण नहीं कि इससे छात्रों को वैसी जानकारी अथवा ज्ञान प्राप्त नहीं होता है, जो उन्हें मौजूदा पाठ्यचर्या से हासिल नहीं हो पाता; बल्कि इसका कारण यह भी है कि यह 'धर्म' और धार्मिक रूप से आस्थावान लोगों को पुनः मुख्यधारा में स्थापित करता है। यह बात कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है। नॉर्ड के अनुसार धार्मिक लोगों को पुनः स्थापित करना अपने आप में महत्वपूर्ण है, क्योंकि इन लोगों को पाठ्यपुस्तकों तथा पाठ्यचर्या में प्रतिनिधित्व न देकर अधिकार-वंचित किया गया है। इसके अतिरिक्त सहमेल की नीति धर्म के प्रति आदर रखती है, जो कि एक उदारवादी-बहुलतावादी राज्य की जरूरतों को देखते हुए आवश्यक है।

नॉर्ड का तर्क है कि 'प्रथम संशोधन' की गलत समझ और प्रस्तुति के कारण धर्म और राज्य के आपसी रिश्तों से बावस्ता कानून और फैसलों ने राज्य-संपोषित शिक्षा-संस्थानों से धर्म और धार्मिक-चिंतन को एकदम बाहर कर दिया। नॉर्ड के अनुसार यह निष्कासन न सिर्फ वैधानिक दृष्टि से गैर-जरूरी है बल्कि उदारवादी नजरिए से कुशिक्षापरक (Miseducational) भी है। निष्कर्ष के तौर पर नॉर्ड का कहना है कि सरकारी स्कूलों में धर्म को गंभीरता-पूर्वक लिया जाना चाहिए (यानी धर्म के प्रति आदर का बरताव होना चाहिए) और इसके लिए पाठ्यचर्या में धर्म को शामिल करना जरूरी है।

नॉर्ड जोर देकर कहते हैं कि हमारे स्कूलों में 'छात्रों को सिर्फ विषय ही नहीं पढ़ाये जाते बल्कि उन्हें सोचने-विचारने के तरीके भी बताए जाते हैं- और धार्मिक विचार, साक्ष्यों तथा निष्कर्षों को इस तरह बड़े व्यवस्थित रीति से चिंतन के दायरे से बाहर कर दिया जाता है।'७ उनका मानना है कि इस निर्वासन के मुख्य कारणों में से एक है, स्कूलों में सत्य के अनुसंधान में सिर्फ वैज्ञानिक पद्धति को एकमात्र समुचित पद्धति मानना। लेकिन वैज्ञानिक पद्धति सत्य के निर्धारण में धार्मिक-पद्धति की अपेक्षा अलग नियमों को अपनाती

है। इस तर्क के अनुसार सत्य के एक खुले और प्रगतिशील अनुसंधान के लिए चूंकि वैज्ञानिक पद्धति को एकमात्र विकल्प मान लिया गया है और जो धार्मिक-पद्धति की अपेक्षा अलग नियमों को अपनाती है। इस तर्क के अनुसार 'सत्य के एक खुले और प्रगतिशील अनुसंधान' के लिए चूंकि वैज्ञानिक पद्धति को एकमात्र विकल्प मान लिया गया है और धार्मिक-पद्धति की निरंतर अनदेखी की जाती है। आखिरकार स्कूलों का काम एक अर्थ में सत्य का अन्वेषण करना ही तो है।८ इस तरह सरकारी स्कूल न सिर्फ धार्मिक-पद्धति पर आधारित चिंतन को, बल्कि बड़े प्रकट ढंग से धार्मिक विचारों, विश्वासों और नजरिये को भी 'सत्यापन के लायक नहीं' बताकर पाठ्यचर्या से बाहर कर देते हैं।

नॉर्ड के विचार से सरकारी स्कूलों की पाठ्यचर्या में 'धार्मिक-चिंतन' को शामिल करना सिर्फ धर्म के प्रति आदर प्रकट करने का मामला नहीं, बल्कि यह छात्रों को एक व्यापक-शैक्षिक-कार्यक्रम प्रदान करके उनके प्रति आदर प्रकट करने का भी मामला है। नॉर्ड के इस नजरिये से जाहिर होता है कि वे छात्र के मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक बेहतरी को बढ़ावा देने तथा एक सच्चे बहुलतावादी लोकतांत्रिक राज्य का मार्ग प्रशस्त करने के दोहरे दायित्व के प्रति कितने गंभीर हैं। यहां यह उल्लेख करना जरूरी है कि नॉर्ड न तो धर्म को और न ही विज्ञान को सत्यान्वेषण का सर्वाधिक दमदार दावेदार मानते हैं। उनके अनुसार दोनों एक ही जगत के बारे में दावे करते हैं। इस कारण सबसे समग्र शिक्षा वह है जो छात्रों को बहुविध विचारों और नजरिए से परिचय कराये और उन्हें इन विचारों-नजरिए में से चयन करने योग्य बनाये जिसकी किसी अन्य स्थिति में संभवतया उन्हें छूट न हो।

जहां नॉर्ड का मानना है कि शिक्षा-संस्थानों का दायित्व बनता है कि वे धर्म के साथ ज्यादा आदर का बरताव करें वहीं नेल नॉर्डिंग्स सरकारी स्कूलों की पढ़ाई-लिखाई में धर्म को शामिल करने के पक्ष में यह दलील देती हैं कि छात्र स्कूल आते हैं तो उनके मन में अस्तित्वगत प्रश्नों की भरमार होती है। वे इन प्रश्नों के घनचक्कर में फंसे होते हैं- स्कूलों को चाहिए कि वह इन चिंताओं और प्रश्नों के समाधान सुझाकर छात्रों का आदर करें। इसके अतिरिक्त, नॉर्डिंग्स का यह भी कहना है कि इन सरोकारों पर ध्यान देने के सकारात्मक शैक्षिक-मूल्य हैं। नॉर्डिंग्स का तर्क है कि स्कूलों का सरोकार छात्रों को बुद्धिसंगत 'विश्वास' अथवा 'अविश्वास' के प्रति शिक्षित करने का होना चाहिए। इसका आशय

यह है कि स्कूलों की छात्रों के प्रति जिम्मेदारी बनती है कि वे छात्रों को अपने धार्मिक-आध्यात्मिक आस्थाओं के सहारे सोचने का अवसर प्रदान करें, और उनके 'विश्वासों' अथवा 'अविश्वासों' के लिए विचारपूर्ण कारण प्रस्तुत करें। नॉडिंग्स का कहना है कि इस जिम्मेदारी को निभाने में असफल रहना युक्तिसंगत नहीं है और इसी कारण इसे शिक्षापरक भी नहीं माना जा सकता। नॉडिंग्स के अनुसार धार्मिक-शिक्षा का अर्थ है धर्म के बारे में निर्देश देना; मैं किस पर विश्वास करता हूँ? किस पर दूसरे लोग विश्वास करते हैं? विश्वास अथवा अ-विश्वास के क्या आधार हैं?

नॉडिंग्स के अनुसार विश्वास करने अथवा नहीं करने की क्षमता को युक्तिसंगत तरीके से विकसित करना जरूरी है क्योंकि बहुत से छात्र अस्तित्वगत प्रश्नों को सोचते हुए अथवा अनेक मामलों में इन प्रश्नों के बोझ से दबे हुए स्कूल आते हैं। एक अस्तित्वगत यक्ष-प्रश्न तो यही है कि क्या ईश्वर का अस्तित्व है? नॉडिंग्स का मानना है कि ऐसे प्रश्नों पर चर्चा करने का अर्थ छात्रों से एक सुनिश्चित 'हाँ' या 'ना' अथवा 'पता नहीं' जैसे उत्तरों पर कोई व्यक्ति किस तरह पहुंचा, उसके बारे में कोई युक्तिसंगत अर्थ खोजना है। ऐसी चर्चा एक महत्वपूर्ण शैक्षिक काम को अंजाम देती है जब छात्र कक्षा के परिवेश में प्रवेश करते हैं, तो उनके मन में या तो ऐसे प्रश्नों के पहले से ही तयशुदा उत्तर मौजूद होते हैं अथवा वे ऐसे प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए मन ही मन जूझ रहे होते हैं। इस प्रकार नॉडिंग्स की दलील है कि प्रासंगिक लगने पर ऐसे सवालों को सभी कक्षाओं और सारे विषयों में शामिल किया जाना चाहिए। इस रीति से स्कूल, धर्म और छात्र दोनों को मान्यता दे रहे होंगे।

नॉडिंग्स के अनुसार धार्मिक (अस्तित्वगत) सवालों को गंभीरतापूर्वक लेने से छात्र के बौद्धिक विकास में मदद मिल सकती है क्योंकि ऐसे शैक्षिक कार्यक्रम का उद्देश्य बुद्धिसंगत विश्वास अथवा अ-विश्वास को बढ़ावा देना है।<sup>9</sup> इस आधार पर कहा जा सकता है कि किसी छात्र का बौद्धिक विकास एक अर्थ में साक्ष्य जुटाने, तर्कों का परखने, प्रमाणों के बीच भेद करने, प्रति-तर्क गढ़ने तथा दावों को चुनौती देने की उसकी क्षमता में बढ़ोतरी करना है।<sup>10</sup> नॉडिंग्स के अनुसार धर्म के मसले में शिक्षा देने का अर्थ है, बुद्धिगम्य विश्वास अथवा अ-विश्वास को बढ़ावा देने के लिए प्रतिबद्ध होना। ऐसी शिक्षा में छात्रों को विभिन्न धार्मिक विश्वासों, धर्म-सूत्रों, पक्ष-प्रतिपक्ष और इनके पारस्परिक विरोध से परिचय कराया जाना चाहिए; साथ ही छात्रों को अपनी जरूरत के अनुसार ऐसे सवाल उठाने तथा उनके उत्तर तलाशने के लिए बढ़ावा दिया जाना चाहिए। यह सब इस रीति से किया जाये कि इससे छात्र का बौद्धिक विकास हो सके। इस प्रकार, ऐसे शैक्षिक-कार्यक्रम का

लक्ष्य छात्रों को एक सुव्यवस्थित मंच प्रदान करना है, जहां छात्र संभावित बहुविध उत्तरों को तलाशने तथा युक्तिसंगत होने की दशा में किसी विशेष नजरिए के पक्ष में राय कायम करने के लिए मुक्त महसूस कर सकें। इस गतिविधि के जरिए छात्रों का नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक-विकास होगा।

कुल मिलाकर देखें तो नॉड और नॉडिंग्स ने सरकारी स्कूलों में धर्म की शिक्षा को शामिल करने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं-

1. धर्म और धार्मिक रूप से आस्थावान लोगों के प्रति आदर प्रकट करने, सहिष्णु बनने तथा उनके लिए दरवाजे खोलने के लिए कम से कम सहमेल की यह नीति जरूरी है।

2. धर्म और धार्मिक रूप से आस्थावान लोगों का आदर करना (क) शिक्षक और (ख) शिक्षण-संस्था दोनों का उत्तरदायित्व है:

(क) शिक्षक का दायित्व है कि वह छात्रों के भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा बौद्धिक विकास में मददगार हो,

(ख) एक बहुलतावादी और उदारवादी प्रजातंत्र में सरकारी संस्थाओं का दायित्व बनता है कि वे बहुलतावादी तथा उदारवादी लोकतांत्रिक-मूल्यों एवं सिद्धांतों का मार्ग प्रशस्त करें।

3. संयुक्त राज्य अमरीका की बहुसंख्यक आबादी ईश्वर में विश्वास करती है। इस तथ्य के आधार पर सरकारी स्कूलों में धार्मिक-शिक्षा को शामिल करने के पक्ष में दो तर्क दिए जा सकते हैं। पहली बात यह कि बहुसंख्यक जनता के लिए प्रासंगिक होने के कारण धर्म को सरकारी-संस्थानों में जगह मिलनी चाहिए। दूसरी बात यह कि बहुसंख्यक आबादी के लिए प्रासंगिक होने के बावजूद अगर सरकारी स्कूलों में धर्म की सुव्यवस्थित पढ़ाई न हो तो ऐसी दशा में धार्मिक शिक्षा के गलत जानकारी और तुर्कों में तब्दील होने की संभावना बढ़ जाती है। और इन तुर्कों पर कोई सवाल नहीं उठा सकता (क्योंकि ये जानकारी और तुर्के बच्चों को अपने माता-पिता से मिलते हैं और वे इस जानकारी को एक अधिकारी विद्वान की भांति देते हैं)। इन बातों के मद्देनजर सरकारी स्कूलों को इस समस्या का समाधान करना चाहिए।

4. चिंतन की धार्मिक पद्धति सत्य के निर्धारण के मामले में चिंतन की वैज्ञानिक पद्धति से मेल नहीं खाती।

5. हम चाहे मानें या न मानें लेकिन विभिन्न धार्मिक विश्व दृष्टियों में आपसी विरोध है और उनके विश्वास या अ-विश्वास भी परस्पर मेल नहीं खाते। इसलिए लोक-कल्याण का ख्याल करते हुए इस मुद्दे पर कक्षा में सुव्यवस्थित पढ़ाई होनी चाहिए।

## दूसरी समस्या: सरकारी स्कूलों के संदर्भ में धर्म के प्रति आदर प्रकट करने के क्या अर्थ है?

नॉर्ड और नॉडिंग्स ने समस्या को एक विशिष्ट मुहावरे में परिभाषित करके अच्छा काम किया है। उनका कहना है कि सरकारी स्कूलों में धर्म के प्रति आदर प्रकट नहीं करना, अपने आप में समस्या मूलक है। लेकिन समाधान के तौर पर उनका प्रस्ताव यह है कि सत्य के अन्वेषण की बात को परखते हुए धर्म की शिक्षा को सरकारी स्कूलों में जगह दी जानी चाहिए। इस प्रस्ताव से स्वयं कुछ समस्याएं खड़ी होती हैं। सरल शब्दों में कहें तो एक समस्या स्वयं आदर शब्द से अलग-अलग मायने ग्रहण करने के कारण उठ खड़ी होती है और इस बात से भी कि धर्म तथा धार्मिक रूप से आस्थावान लोगों के प्रति आदर प्रकट करने के क्या अर्थ होते हैं?

इन विद्वानों का सुझाव है कि धर्म की पढ़ाई कक्षाओं में इस प्रकार होनी चाहिए कि छात्र मुक्त-भाव से धार्मिक मुद्दों, चिंताओं, विश्वासों और दावों को उठा सकें और ये विद्वान मानते हैं कि शिक्षकों, स्कूल तथा छात्रों का दायित्व बनता है कि वे इन मुद्दों, सरोकारों, विश्वास तथा दावों पर युक्तिसंगत ढंग से विचार करें। इस रीति का अनुगमन करें तो बहुत संभव है कि दो छात्र परस्पर बेमेल और विरोधी दृष्टियों के हामी हो जाएं, क्योंकि इस बात की पर्याप्त संभावना है कि दोनों अपने धर्म विश्वास को स्वयं में सुसंगत तथा युक्तियुक्त बनाकर प्रस्तुत करें। ऐसी स्थिति में स्वयं नॉर्ड और नॉडिंग्स के ही तर्क का पालन करें तो दोनों छात्रों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए जरूरी होगा कि उनके विचारों के बीच किसी तरह का मेल-मिलाप न किया जाय।

नॉर्ड और नॉडिंग्स इस मान्यता के हामी हैं, क्योंकि दोनों ही तनिक हेर-फेर के साथ यह मानते हैं कि धर्म के अध्ययन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है- अपने अधिकार से वंचित कर दिए गए छात्रों को अपने विचार और नजरिए रखने का अवसर देना; तथा इस रूप में स्कूली-पाठ्यचर्या में धर्म तथा धार्मिक-विश्वासों, दावों और अनुभवों को पुनः मुख्यधारा में लाना। इसके अतिरिक्त इन विद्वानों की मान्यता यह भी संकेत करती है कि एकमात्र इसी रास्ते से धर्म का अध्ययन करने पर बहुलतावादी समाज की मांग के अनुरूप सहिष्णुता का मूल्य हासिल किया जा सकता है; क्योंकि अगर हम जोर 'सत्य' (किसी भी पारंपरिक अर्थ में) पर दें तो एक दलदल में फंसेंगे, जिसे जॉन हिक ने 'रूढ़िपस्ती का हौवा' कहा है।<sup>11</sup> दूसरे

शब्दों में कहें तो सत्य के सवालों को हल करना असंभव होगा और ऐसा करने की कोशिश विभाजनकारी सिद्ध होगी। नॉर्ड और नॉडिंग्स के विचार के अनुसार 'सत्य' के सवालों को किसी भी सूत्र में सुलझाना जरूरी नहीं है, क्योंकि 'सत्य' के सवाल से टकराए बगैर भी कोई व्यक्ति धर्म की अच्छी शिक्षा हासिल कर सकता है।

मैं नॉर्ड और नॉडिंग्स की इस मान्यता से सहमत हूँ कि सरकारी माध्यम से दी जा रही शिक्षा में धर्म के प्रति 'आदरभाव' प्रकट करना जरूरी है; लेकिन इन विद्वानों की इसी मान्यता से पैदा इस दावे से मैं सहमत नहीं कि धर्म के प्रति आदर प्रकट करने के लिए 'सत्य' के सवालों को दरकिनार करना जरूरी है। सत्य के सवालों को एक कोने में खिसका देना धर्म और धार्मिक रूप से आस्थावान लोगों के प्रति 'आदर' प्रकट करने का तरीका नहीं है। इससे छात्रों को ज्यादा चिंतनशील और युक्तियुक्त बनाने में भी मदद नहीं मिलती। जब 'सत्य' के सवाल को बहस में नजर अन्दाज कर दिया जाता है तब छात्र अपने विश्वासों, दावों और प्रतिज्ञप्तियों की भीतरी सुसंगतता भर प्रकट कर पाते हैं। लेकिन भीतरी सुसंगतता

○  
**धर्म की पढ़ाई कक्षाओं में इस प्रकार होनी चाहिए कि छात्र मुक्त-भाव से धार्मिक मुद्दों, चिंताओं, विश्वासों और दावों को उठा सकें। ... शिक्षकों, स्कूल तथा छात्रों का दायित्व बनता है कि वे इन मुद्दों, सरोकारों, विश्वास तथा दावों पर युक्तिसंगत ढंग से विचार करें।**

मात्र पर बल देना, हमें एक तरह के 'सापेक्षतावाद' की तरफ खींच ले जाता है। 'सापेक्षतावाद' के अपने कई खतरे हैं। पहला तो यही कि अधिकांश धर्म और धार्मिक-जन अपने विश्वासों और दावों को सापेक्षिक नहीं मानते और यह भी मानते हैं कि इस रवैये से धर्म की पढ़ाई धर्म को सम्पूर्णता में देखने के बजाय टुकड़ों में देखने को प्रेरित करेगी। दूसरे, छात्रों में सापेक्षतावादी रवैया जगाने से संभव है वे धर्म तथा धार्मिक-विश्वासों के प्रति उदासीन

हो जायें। इस सूत्र में उनका यह रवैया धर्म और धार्मिक विश्वासों के प्रति 'आदर' का नहीं कहा जाएगा। तीसरे, छात्रों में सापेक्षतावादी प्रवृत्ति जगाने से वे 'सहिष्णुता' से जुड़े एक हेत्वाभास का शिकार हो सकते हैं। इस 'हेत्वाभास' के अनुसार यह निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत नहीं कि किसी व्यक्ति के विश्वास गलत हैं अथवा कुछ लोग भूलवश इन विश्वासों के हामी हैं; भले ही ये विश्वास उस व्यक्ति की तार्किक निष्पत्ति हों।<sup>12</sup> जब तक हम विश्वास, दावों तथा प्रतिज्ञप्तियों के सत्यापन का आधार उनकी आंतरिक सुसंगतता को मानेंगे तब तक हम इस 'हेत्वाभास' का शिकार होते रहेंगे।

'सत्य' के सवालों को परे करके धर्म की शिक्षा को पाठ्यचर्या में शामिल करने के खतरे को बताने के लिए उपरोक्त तर्क पर्याप्त हैं; लेकिन धर्म की पढ़ाई को इस रीति से करने से कुछ और गंभीर किस्म की समस्याएं खड़ी हो सकती हैं। इन पर हमारा ध्यान तब

जाता है, जब हम अस्मिता के संकटों पर विचार करते हैं। इस समस्या को हम 'अस्मितापरक चुनौती' का नाम देंगे। इस तर्क के अनुसार- धर्म के प्रति 'आदर' प्रकट करना तो ठीक है लेकिन 'आदर' प्रकट करने का तरीका नार्ड और नॉडिंग्स द्वारा सुझाए तरीके से मूलभूत रूप में भिन्न है। 'अस्मितापरक चुनौती' के आधार पर नॉर्ड और नॉडिंग्स के दो प्रधान दावों से मेरा विरोध है- पहला तो यह कि धर्म के मामले में 'सत्य' के सवाल को परे रखना धर्म के प्रति 'आदर' प्रकट करने का लक्षण है और दूसरा यह कि धार्मिक-विश्वास, दावे, अनुभव, पाठ और सिद्धांत सामान्य विश्वास अथवा दावों से भिन्न होते हैं, इसलिए उनके मूल्यांकन का पैमाना वही नहीं हो सकता, जो आमफहम विश्वासों और दावों के मूल्यांकन का होता है।

'अस्मितापरक चुनौती' के अनुसार धर्म के मामले में 'सत्य' के सवालों को परे कर देना धर्म के प्रति आदर जताने का कोई प्रमाणिक तरीका नहीं है; क्योंकि इसमें पहले से मान लिया गया है कि धर्म के लिए 'सत्य' न तो केंद्रीय है और न ही प्रासंगिक।<sup>13</sup> इसकी जगह 'अस्मितागत चुनौती' से निकले तर्क का आग्रह है कि आप धर्म के प्रति आदर-सम्मान तब जताते हैं, जब आप इस संभावना को मान लेते हैं कि धर्म में भी सत्य हो सकता है। इस तर्क के अनुसार नार्ड और नॉडिंग्स ने यह मानकर भूल की है कि धर्म का 'सत्य' के आधार पर मूल्यांकन नहीं किया जाता और न ही किया जा सकता है। 'अस्मितापरक चुनौती' यह तो मानती है कि नॉर्ड और नॉडिंग्स अंततः सही कह रहे हैं; क्योंकि हमारे पास उस तरह के प्रमाण शायद कभी न हों, जिनके आधार पर हम अनिवार्य रूप से कह पायें कि फलां धर्म सच्चा है और बाकी झूठे। किंतु अस्मितापरक चुनौती की यह पूर्व-मान्यता कि 'धर्म सत्य का प्रतिरूप नहीं हो सकता' हावी रहती है। और यह समझ इस बात से इंकार करती है कि धर्म के सत्य को परखने का ऐसा कोई साक्ष्य नहीं होता जिसके लिए प्रतिस्पर्धी धर्म के अनुकूल कुछ ऐसे साझे मानक हम गढ़ लें, जिसके आधार पर विश्वासों, दावों और अनुभवों को परखा जा सके।

इसके नतीजे में तो सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि कोई भी धर्म सच्चा नहीं; या निश्चित तौर पर ऐसा कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

नॉर्ड के अनुसार छात्रों को प्रमुखता देने और उन्हें अधिकार-संपन्न बनाने के लिए धार्मिक-चिंतन और अनुभव को स्कूलों में शामिल किया जाना चाहिए। उनका यह भी कहना है कि जब तक छात्र के धार्मिक-विचार अथवा नजरिये उसके धर्म की स्थापनाओं के अनुकूल हों तब तक उन्हें मानने की छूट होनी चाहिए। लेकिन

'अस्मितापरक चुनौती' से उपजे तर्क का कहना है कि 'धार्मिक-चिंतन' को शामिल मात्र कर लेने से उसका आदर नहीं हो जाता। सचमुच आदर प्रकट करने के लिए जरूरी है कि हम धार्मिक दावों, विश्वासों और अनुभवों को मूल्यांकन की साझी-प्रक्रिया के हवाले कर दें। भले ही हम किसी भी दावे की सच्चाई के पक्ष में कोई निर्णायक साक्ष्य न दे पायें किंतु 'अस्मितापरक चुनौती' के अनुसार धार्मिक दावों की परख इस प्रक्रिया के तहत जरूर करनी चाहिए।

अस्तित्वमूलक विश्वासों की प्रकृति को लेकर नॉडिंग्स की जो समझ है, उससे भी 'अस्मितापरक चुनौती' का मतभेद है। नॉडिंग्स ने धार्मिक-विश्वासों को अस्मितामूलक माना है, अर्थात् यह स्वीकार कर लिया है कि इन विश्वासों से जुड़े प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं हो सकता। इस आधार पर नॉडिंग्स को यह कहने की छूट मिल जाती है कि धार्मिक विश्वास अथवा दावे खास किस्म के हैं, तो फिर इन पर सर्व-सामान्य मूल्यांकन की कसौटी आजमाने की जरूरत नहीं रह जाती।

'अस्मितापरक चुनौती' नॉडिंग्स की इस मान्यता को सही नहीं मानती कि धार्मिक प्रश्न मात्र अस्तित्वमूलक होते हैं। अगर हम यह मान भी लें कि इस तरह के विश्वासों और दावों में अस्तित्वमूलक गुण होते हैं, तो भी हमें यह मानना होगा कि ये सिर्फ और सिर्फ अस्तित्वमूलक नहीं हो सकते; बशर्ते अस्तित्वमूलक शब्द से हमारा आशय यह हो कि ऐसा कोई बाहरी पैमाना नहीं है जिससे इन विश्वासों और दावों की परख सार्थक ढंग से की जा सके। एक महान धार्मिक और दार्शनिक परंपरा इस बात के पक्ष में है कि धार्मिक विश्वासों, और दावों को समझने, बुद्धिगम्य बनाने तथा मूल्यांकन के लिए उनको तर्कसंगत ढंग से परखना संभव है।<sup>14</sup>

'अस्मितापरक चुनौती' सिर्फ नॉर्ड और नॉडिंग्स की मान्यताओं का ही नहीं बल्कि उन लोगों का ही भारी प्रतिवाद करती है, जो परंपरागत सोच के तहत यह मानते हैं कि धर्म और सार्वजनिक-जीवन दो अलग-अलग जीवन क्षेत्र हैं और बेहतर यही है कि इन्हें परस्पर अलग तथा विशिष्ट बना रहने दिया जाय। नॉर्ड और नॉडिंग्स के तर्क की अनिवार्य परिणति यही है कि यदि आप सरकारी स्कूलों से धर्म की शिक्षा को बाहर रखते हैं अथवा अगर आप धार्मिक विश्वासों, पाठों, सिद्धांतों, दावों या अनुभवों पर मूल्यांकन के लिए कोई मानक कसौटी लागू करते हैं तो आप निश्चित ही धर्म की महिमा घटा रहे हैं; अथवा धर्म की मूल्यवत्ता पर कोई नकारात्मक फैसला सुना रहे हैं। यदि हम धर्म के प्रति आदर प्रकट करना चाहते हैं तो न सिर्फ हमें सरकारी स्कूलों में अध्ययन के विषय के तौर पर 'धर्म' को शामिल करना चाहिए बल्कि हमें 'सत्य' के सवालों को परे रखकर 'धर्म' की विशिष्टता की रक्षा

करनी चाहिए, क्योंकि 'धर्म' की सच्चाई का निर्धारण मूल्यांकन की किसी भी मानक कसौटी से नहीं हो सकता। 'अस्मितापरक चुनौती' से उपजा तर्क इन बातों का खंडन करता है। उसकी दलील है कि सरकारी स्कूलों से धर्म की पढ़ाई-लिखाई को बाहर रखना धर्म के निरादर का सूचक तो है ही, इसे नॉर्ड और नॉडिंग्स द्वारा सुझायी रीति से अध्ययन के एक विषय के रूप में सरकारी स्कूलों में शामिल करना भी उतना ही निरादरपूर्ण है।

'अस्मितापरक चुनौती' के हवाले से मेरा सुझाव यह है कि अगर धर्म के प्रति आदर-भाव महत्वपूर्ण है तो धर्म की कोई भी पढ़ाई उसकी सच्चाई के सवाल को परे रखकर नहीं होनी चाहिए। मेरा निवेदन यह है कि धर्म, धार्मिक रूप से आस्थावान लोगों और स्कूल के छात्रों के प्रति सचमुच आदर प्रकट करने के लिए हमें इस संभावना को मानना चाहिए कि धर्म भी सत्य का प्रतिस्पर्धी हो सकता है। इस पक्ष को ग्रहण करने के लिए जरूरी है कि हम जब तक संबद्ध विश्वासों और दावों की आलोचनात्मक पड़ताल न कर लें, तब तक इनकी मूल्यवत्ता अथवा महत्व के बारे में अपने फैसले को स्थगित रखें। धर्म को सचाई की कसौटी पर परखे बिना उसकी मूल्यवत्ता का निर्धारण नहीं हो सकता। हमें इस संभावना के लिए अपना मन खुला रखना चाहिए। इस संभावना को बनाए रखने के लिए अपने तर्क इस बात को मानना जरूरी है कि बहुत संभव है धार्मिक विश्वास और दावे विशिष्ट श्रेणी के न हों और उनका मूल्यांकन एक मानक कसौटी पर करना संभव हो। इस संभावना को स्वीकार किए बगैर धर्म की शिक्षा को सरकारी स्कूलों में एक विषय के तौर पर शामिल करने की मांग करना दरअसल धार्मिक-विश्वदृष्टि की सरपरस्ती करना है। दूसरी तरफ, धर्म की पढ़ाई स्कूलों में इस तरह करना-कराना कि उसमें विश्वासों, दावों और धार्मिक अनुभवों की सुव्यवस्थित तथा आलोचनात्मक समीक्षा जरूरी हो- उदारवादी शैक्षिक आदर्शों के अनुकूल है और इस अभिगम के सहारे 'अस्मितापरक चुनौती' के सवालों से निपटा जा सकता है।

नॉर्ड और नॉडिंग्स के साथ-साथ मेरा तर्क भी यही है कि अगर अपवर्जन (exclusion) की नीति के चलते धर्म अथवा

धार्मिक लोगों की अस्मिता का आदर नहीं हो पाता तो फिर हम 'अस्मितापरक चुनौती' द्वारा स्थापित मानदंडों के आधार पर इस समस्या का समाधान कैसे करें? दूसरे शब्दों में छात्रों में ज्यादा से ज्यादा युक्तिसंगत चिंतन-मनन करने की क्षमता विकसित करने की अपनी जिम्मेदारी निभाते हुए हम धर्म और धार्मिक लोगों के प्रति आदर-भाव कैसे प्रकट करें?

**धर्म की शिक्षा को सरकारी स्कूलों में शामिल करने से जुड़ी समस्याएं : (लेखक '2')**

सामान्य कथन लेखक '1' की बातों के संदर्भ में मेरा निवेदन यह है कि इसमें जो कुछ आरंभिक तौर पर समस्यात्मक लग रहा है, वह दरअसल उतना चुनौतीपूर्ण है नहीं। जहां तक मुझे लगता है, लेखक '1' ने जो समस्याएं बतायी हैं वे दरअसल ऊपर वर्णित विभिन्न स्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएं हैं।

मैं यहां जिस मुख्य मसले पर चर्चा करूंगा, वह ज्ञानमीमांसीय है। मैं उन चुनौतियों की भी चर्चा करूंगा जो इस सिलसिले में, शिक्षकों के सामने उठती हैं। बहरहाल, धर्म की शिक्षा को सरकारी स्कूलों में शामिल किया जाय या नहीं इसके पक्ष-विपक्ष में बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। पहली बात, जैसा कि लेखक '1' ने बताया भी है- 10 से 9 अमरीकी किसी न किसी रूप से ईश्वर में विश्वास करते हैं। इस आंकड़े को देखते हुए, कोई यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि लोगों को स्कूल के बाहर पर्याप्त रूप से धार्मिक-शिक्षा उपलब्ध हो रही है और इस आधार पर वह कह सकता है कि धर्म को अध्ययन के एक विषय के रूप में स्कूल में शामिल

करने की जरूरत ही नहीं है।

दूसरे, लेखक '1' ने सांस्कृतिक-बहुलतावाद की दुहाई दी है और कहा है कि सहिष्णुता और आदर के नाम पर हाशिए के समूहों को पुनः केन्द्र में लाया जाय। यह सचमुच एक मूल्यवान लक्ष्य है, लेकिन इसे 'धर्म' की पढ़ाई के मामले में लागू करने से पहले हमें इस आशय के साक्ष्य देने होंगे कि किसी विशिष्ट समुदाय के बच्चों के साथ उनके धर्म के कारण भेदभाव किया जाता है। जहां भेदभाव हो रहा है, वहां स्कूल की जिम्मेदारी बनती है कि वह आगे आए और भेदभाव मिटाने तथा सहिष्णुता को बढ़ावा देने की

गरज से छात्रों को शिक्षित करें। लेकिन जहां भेदभाव नहीं हो रहा है, वहां स्कूलों के लिए इस दायित्व को निभाने की जरूरत नहीं है। पिछले अनुच्छेद में जो आंकड़ा बताया गया है उसे देखते हुए प्रतीत तो यही होता है कि जो धर्म में आस्था नहीं रखते, वे ही सबसे ज्यादा हाशिये पर हैं और हाशिए के समूहों को मुख्यधारा में लाने वाले तर्क से फिर ऐसी स्थिति में हमें स्कूलों में सहिष्णुता और आदर के नाम पर निरीश्वरवाद पढ़ाना होगा। अब वस्तुस्थिति क्या है- यह मुझे नहीं मालूम। यह एक अनुभवगम्य मामला है और इस सिलसिले में खोजबीन होनी चाहिए कि विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में धार्मिक लोगों की संख्या कुल आबादी के बीच कितनी है। यहां मैं बस इतना भर कहना चाहता हूं कि लेखक '1' ने धार्मिक विश्वास के आधार पर होने वाले भेदभाव की पुष्टि में कुछ भी नहीं कहा है।

तीसरे, लेखक '1' का ध्यान एक बात पर नहीं गया है कि बहुत से लोगों के धार्मिक-विश्वास तर्क पर नहीं आस्था पर आधारित होते हैं। हां, आस्था, तर्क की विरोधी हो, यह जरूरी नहीं। फिर भी यहां आपत्ति एक अलग ही बात पर है। अमूमन लोग-बाग अपने धार्मिक विश्वास का आधार तर्क-बुद्धि को नहीं बनाते। इसके फलस्वरूप वे अपने धार्मिक-विश्वासों का युक्तियुक्त मूल्यांकन नहीं चाहते और यह भी जरूरी नहीं कि उनके भीतर अपने विश्वासों की युक्तिसंगत परीक्षा की क्षमता हो ही। धार्मिक विश्वासों की बुनियाद अनिवार्य रूप से तर्कबुद्धि पर कायम नहीं होती और इसलिए स्कूली परिवेश में उनकी कोई फलदायी परीक्षा भी नहीं हो सकती। स्कूली-परिवेश में बस थोड़ी जागरूकता पैदा की जा सकती है इन विषयों पर। यह बताया जा सकता है कि किन बातों पर दूसरे लोगों को धार्मिक विश्वास है- यह नहीं कि क्या इन लोगों के पास अपने विश्वास के पक्ष में समुचित कारण मौजूद हैं या नहीं। शिक्षा की प्राथमिक शर्तों में से एक है किसी विश्वास के पक्ष में प्रबलतर औचित्य बताने के बाद ही उस विश्वास को ग्रहण करना। इसी कारण 'शिक्षा' और 'दीक्षा' में अंतर होता है। चूंकि धर्म अक्सर तर्कबुद्धि पर आधारित नहीं होता, इसलिए बेहतर यही है कि उसे शैक्षिक दायरे से बाहर रखा जाय।

चौथी बात, स्कूल में सत्य के संबंध में जिन दावों की परीक्षा होती है, वे छोटे-मोटे सत्य होते हैं। स्कूलों का दावा यह नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए (कम से कम मेरी नजर में) कि वे शाश्वत, अविकारी परम सत्य का उद्घाटन कर रहे हैं। स्कूलों का दावा मात्र इतना भर होता है कि किसी मुद्दे पर प्रस्तुत साक्ष्यों को देखते हुए उससे सहमति जतायी जा सकती है अथवा नहीं जतायी जा सकती। दूसरे शब्दों में, स्कूलों में परीक्षा के तौर पर इतना भर

किया जा सकता है कि मूल्यांकन की हमारी कसौटी पर अलां या फलां बात सही मानी जा सकती है या नहीं। यह तर्क उपरोक्त तीसरे तर्क पर आधारित है और इसके सहारे हम इस मसले पर पहुंचते हैं कि सत्य के सवाल को धर्म की पढ़ाई के दौरान परे रखा जा सकता है या नहीं। धर्म हमेशा 'तात्त्विक सत्य' (Metaphysical Truth) अर्थात् महत्तर सत्य के बारे में दावा करता है। ये सत्य हमारे मूल्यांकन की सीमा से बाहर होते हैं। इसलिए हमारी जरूरत यह प्रश्न उठाने की है कि ऐसे सत्य पर की जाने वाली चर्चा कक्षा में कौन-सी सकारात्मक भूमिका निभा सकती है। मेरे कहने का आशय यह कतई नहीं कि ऐसे खुले सवालों को पाठ्यचर्या में शामिल नहीं किया जा सकता। मेरा ख्याल है कि ऐसे सवालों पर कई कारणों से हमें कहीं ज्यादा ध्यान देना चाहिए लेकिन इसका एक मतलब यह भी हुआ कि हम छात्रों को बतायें कि धर्म के तात्त्विक सत्य की दावेदारी पर उठाए गए प्रश्न थोड़े अलग किस्म के हैं और अमूमन कक्षाओं में 'सत्य' के जैसे सवाल उठाये जाते हैं और उनके उत्तर सुझाये जाते हैं, उनसे ये प्रश्न और उत्तर तनिक हटकर हैं।

इस चौथे तर्क से जुड़ा मसला विश्वास की दृढ़ता का है। बहुत-से धार्मिक लोग अपने विश्वासों पर सवाल किए बगैर उन्हें मानते हैं; उनकी आस्था अचल होती है। धार्मिक दावों पर किसी शैक्षिक-वातावरण में सवाल उठाने के लिए जरूरी है कि चर्चा में भाग ले रहे सभी प्रतिभागियों का दिमाग इस के लिए खुला हो। छात्रों में आलोचनात्मक विवेक जगाने के लिए हम उनसे इस संभावना पर भी गंभीरतापूर्वक सोचने के लिए कहें कि संभव है किसी के पास अपने विश्वासों के पक्ष में प्रबल कारण मौजूद हों और यह भी बताएं कि छात्र अपने विश्वासों की आलोचनात्मक पड़ताल भी करें। बहरहाल, बहुत-से अभिभावकों को यह गवारा नहीं होगा कि उनके बच्चे उनकी धार्मिक आस्था पर इस तरह के सवाल उठाएं और न ही धार्मिक मति के बहुत-से छात्र ऐसा करना चाहेंगे। इस तरह अगर उपरोक्त अर्थ में धर्म की शिक्षा को स्कूली-पाठ्यचर्या में शामिल करने की मंशा हो तो अधिकांश धार्मिक लोग यही चाहेंगे कि अध्ययन के एक विषय के रूप में धर्म को नहीं शामिल किया जाय तो अच्छा!<sup>15</sup>

लेकिन यहां हम विचार-विमर्श के लिहाज से थोड़ी देर के लिए मान लें कि धर्म को किसी न किसी रूप में स्कूली-पाठ्यचर्या में जगह देनी चाहिए अथवा दी जा रही है। तब भी हमारे सामने यह सवाल मौजूद रहेगा कि क्या इसकी पढ़ाई-लिखाई में 'सत्य' के सवाल को परे करना उचित है? इस आलेख की शुरुआत इस बात से हुई थी कि धार्मिक दावों के मूल्यांकन के लिए कौन-सी कसौटी अपनायी जाय। चर्चा के इस बिन्दु पर आकर हमारे सामने अभी यह



स्पष्ट नहीं हो पाया है कि ऐसी कोई कसौटी मौजूद है या नहीं अथवा ऐसी कसौटी बनायी जा सकती है या नहीं। किंतु इस सवाल से टकराने के पहले हम अपनी समझ इस बात पर साफ कर लें कि क्या ऐसी कसौटी अनिवार्य है? लेखक '1' के अनुसार ऐसी कसौटी की अनिवार्यता दो कारणों से है: सापेक्षतावाद और अस्मितापरक चुनौती। मैं बारी-बारी से दोनों पर चर्चा करूंगा।

### सापेक्षतावाद

लेखक '1' का कहना है शैक्षिक-लक्ष्य अथवा परिणाम के रूप में सापेक्षतावाद स्वीकार किये जाने लायक नहीं। इस नजरिए से, सत्य के सवाल को परे रख देने का मतलब होगा कि हम किसी धार्मिक दावे के सत्य-असत्य का फैसला स्वयं व्यक्ति की मर्जी पर छोड़ रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो मुझे सच लग रहा है, वह मेरे लिए सच है। यह बात उदारवादी लोकतांत्रिक मूल्यों के खिलाफ है, जिसके अनुसार आलोचनात्मक चिंतन और औचित्यपूर्ण विश्वास की शिक्षा देना ही लक्ष्य है। यदि सभी विश्वास स्थानीय अर्थात् व्यक्ति-विशेषी हों तो इसका एक खतरा तो यही है कि लोकतांत्रिक जीवन के विभिन्न विवादात्मक और संघर्ष परक मुद्दे पर चर्चा के लिए कोई सर्व-सामान्य भाषा ही मौजूद नहीं रहेगी।

एक अर्थ में मैं इस बात से सहमत हूँ कि सापेक्षतावाद ठीक नहीं और इससे बचना चाहिए। किंतु कभी-कभी ऐसे वक्त भी आते हैं, जब निर्णय को स्थगित रखना एकदम उचित होता है। आलोचनात्मक विवेक से संपन्न चिंतक के सामने एक स्थिति यह आती है जब दो या अधिक विकल्पों में से किसी एक को चुनने के पक्ष में पर्याप्त साक्ष्य नहीं होते। ऐसी स्थिति में वह प्रश्नों पर 'न जानामि' की मुद्रा में मौन साध लेता है। संभवतया धार्मिक-सवाल ऐसे प्रश्नों के एक उदाहरण हैं।

लेखक '1' का कहना है कि हमें कम से कम इस बात की संभावना को स्वीकार करना चाहिए कि धार्मिक सवालों के मूल्यांकन की बहुत-सी कसौटियां हो सकती हैं। आलोचनात्मक विवेक से संपन्न एक अच्छा चिंतक इस संभावना के प्रति अपना मन खुला रखेगा। बहरहाल किसी युक्तिसंगत और व्यावहारिक कसौटी के अभाव में बेहतर यही है कि नॉर्ड के मंतव्य को मानकर हम इन प्रश्नों की परीक्षा उनकी धर्म-परंपरा के संदर्भ में करें। एक रूपक के माध्यम से नॉर्ड के मंतव्य को संभवतया अच्छी तरह से समझने में मदद मिलेगी। विज्ञान की दुनिया में कभी-कभी कोई परिघटना ऐसी भी होती है, जिनकी दो अलग-अलग एवं परस्पर बेमेल सिद्धांतों अथवा विचार-प्रस्थानों द्वारा समान रूप से सही-सही व्याख्या हो जाती है। इस बात को देखते हुए कि कौन-सा सिद्धांत अथवा विचार प्रस्थान (Paradigm) सही है- इस संदर्भ में कोई सहमति

नहीं है- एक जिम्मेदार और आलोचनात्मक विवेक से संपन्न चिंतक इस बात की तार्किक करेगा कि दोनों व्याख्याओं के सही होने की संभावना है। यदि एक विचार-प्रस्थान अथवा सिद्धांत इस हद तक सुस्थापित हो जाये कि दूसरे को गंभीरतापूर्वक न लिया जा सके तो विचारक को चाहिए कि वह अपना नजरिया बदले। लेकिन इस स्थिति के मौजूद होने से पहले सापेक्षतावाद (अर्थात् दोनों उत्तरों को गंभीरता पूर्वक ग्रहण करना) एक समुचित उपाय है।

यही बात विभिन्न धर्म-परंपराओं के बारे में भी कही जा सकती है। ये परंपराएं परस्पर बेमेल विचार-प्रस्थान हैं। इन्हें अभी सुलझाया नहीं गया है अथवा यूँ कहें कि सुलझाया नहीं जा सकता। प्रत्येक धर्म-परंपरा अपने तई विश्व की व्याख्या करती है और यह व्याख्या उस धर्म-परंपरा के हामी लोगों को साक्ष्य अथवा अनुमान की कसौटी प्रदान करती है। इस अर्थ में धर्म स्कूल में पढ़ाए जाने वाले अन्य बहुत-से विषयों के समान है। जैसा कि इजरायल शेफलर का कहना है कि कोई विषय कुछेक परिपाटियों पर आधारित सहमति क्षेत्र होता है और यही सहमति यह तय करती है कि उस विषय को कैसे बरतना है।<sup>16</sup> धर्म के समान मुख्यधारा के अध्ययन के विषय भी अपने अनुशासनिक हाशिए पर उस विषय के बारे में असहमतियों को धारण करते हैं। कुछ इतिहासकार लिखते हैं कि मौखिक-वृत्तांत पर्याप्त ऐतिहासिक साक्ष्य प्रदान करते हैं, जबकि कुछ अन्य इतिहासकारों का कहना है कि मात्र लिखित दस्तावेजों को ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। बावजूद इसके अधिकांश इतिहासकारों में इस बात को लेकर सहमति है कि इतिहास किसे कहेंगे और इतिहास कैसे लिखा जाएगा। ठीक इसी तरह अधिकांश बैपटिस्ट इस बात पर एक-दूसरे से सहमत हैं कि सत्य के कौनसे घटक हैं और किसी दावे के औचित्य के रूप में किन बातों को स्वीकार किया जाय। लेकिन कोई इतिहासकार किसी भौतिकवेत्ता से 'अनुमान के नियमों' अथवा 'साक्ष्य किसे कहेंगे' जैसी बातों पर सहमत नहीं होगा; इसी तरह किसी बैपटिस्ट की किसी बौद्ध से इस तरह की बातों पर सहमति नहीं होगी। संभवतः एक ऐसे पैमाने की अपेक्षा करना, जो इन सभी अलग-अलग परंपराओं में मेल स्थापित करे, अपने आप में असंगत है।

संभव है लेखक '1' और मेरे बीच सापेक्षतावाद के मसले पर जो मतभेद हैं, उसका कारण यह हो कि हम सत्य को अलग-अलग रूपों में देखते हैं। सत्य की मेरी धारणा कार्ल पॉपर की 'असत्य की संभाव्यता' की धारणा पर आधारित है।<sup>17</sup> किसी भी दावे को हमेशा के लिए परम सत्य के रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता। लेकिन अगर हम किसी दावे को एक परिकल्पना के रूप में ग्रहण करके सत्यापन के सभी मौजूद परीक्षणों से गुजरें और वह

परिकल्पना झूठी सिद्ध न हो तो हमें उसे सत्य मानना चाहिए। हम अगर इसी विचार को अपने विवाद के संदर्भ में लागू करें तो कहा जाएगा कि किसी ने भी यह सिद्ध नहीं किया है कि कोई ऐसा प्रतिमान नहीं है जो किसी धर्म विशेष का पारगामी न हो और जिसके बूते सभी धर्मों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। लेकिन हमारे पास इस बात के भी प्रमाण हैं कि विभिन्न परंपराओं के अत्यंत कुशाग्रबुद्धि तर्क निपुण लोग धार्मिक प्रश्नों के परस्पर विभिन्न उत्तरों तक पहुंचे हैं। इस तथ्य से यह जान पड़ता है कि धर्म का कोई पारगामी प्रतिमान मौजूद नहीं है।

यहाँ विचार करने की बात यह भी है कि अनेक धार्मिक दावों की प्रकृति तात्त्विक होती है। इसलिए इन दावों के मूल्यांकन के लिए प्रतिमान खोज पाना बहुत मुश्किल (कुछ लोग कहेंगे असंभव) होता है। सापेक्षतावाद भौतिक तथा सामाजिक-विज्ञान के लिए ठीक नहीं है। इन विज्ञानों में सत्य के अन्वेषण के तरीके मौजूद हैं और इन पर सहमति भी है। इन तरीकों से निकाले गए निष्कर्षों का दृश्यमान वस्तु-जगत के संदर्भ में सत्यापन भी हो जाता है। लेकिन 'क्या ईश्वर का अस्तित्व है', क्या मृत्यु के बाद भी जीवन है? क्या आत्मा जैसी कोई चीज है? - जैसे प्रश्नों के संदर्भ में परस्पर अलग-अलग और विरोधी विचार मिलते हैं। इनके बीच कोई सर्व-सामान्य उत्तर ढूँढ पाना बहुत मुश्किल या कहें कि असंभव होता है।

मैं सापेक्षतावाद के बारे में अपनी तरफ से एक बात कहना चाहता हूँ। नॉर्ड और नॉडिंग्स का कहना है कि आदर-भाव और सहिष्णुता को बढ़ावा देने के लिए स्कूलों की मुख्यधारा में धर्म को स्थापित करना जरूरी है। लेखक '1' का दावा है कि यह लक्ष्य अच्छा तो है लेकिन सत्य के सवाल को परे करके हम दरअसल निरादर और असहिष्णुता को ही बढ़ावा दे रहे होंगे। धर्म के अध्ययन में सत्य के सवाल को परे रखने के वास्तविक परिणाम क्या होंगे- इसके निर्धारण के लिए हमारे पास शोधपरक आंकड़े होने चाहिए। लेकिन ऐसे आंकड़ों के बगैर भी हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि लेखक '1' ने जो विकल्प अपनी तरफ से सुझाया है, उसके परिणाम क्या होंगे? सत्य के सवाल को परे नहीं रखने के पीछे प्राथमिक लक्ष्य यह परखना है कि क्या कुछ धार्मिक विचार अन्य धार्मिक विचारों की तुलना में ज्यादा सत्य हैं। अब हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि जिस धार्मिक विचार को कम सत्य बताया जा रहा है, उसको मानने वाला छात्र अपने प्रति आदर-भाव अथवा सहिष्णुता को अनुभव करेगा या नहीं (निश्चित ही नहीं करेगा)।

## अस्मितापरक चुनौती

जैसा कि लेखक '1' ने बताया है, 'अस्मितापरक चुनौती' का मानना है कि धर्म के प्रति सचमुच का आदर भाव तभी प्रकट होता है जब हम इस संभावना को स्वीकारें कि कुछ धार्मिक दावे सत्य और कुछ धार्मिक दावे झूठ होते हैं। इस संभावना को स्वीकार करना जरूरी है क्योंकि बहुत से धार्मिक व्यक्ति सोचते हैं कि उनका धर्म इन प्रश्नों के बारे में सच बयान करता है। इसलिए, सच के सवाल को परे रखना उस भाव का निरादर करना है, जिस भाव से ये लोग धार्मिक हैं। यह एक महत्वपूर्ण तर्क है- इसके बारे में शिक्षकों को संवेदनशील होना चाहिए क्योंकि ऐसे मामले कक्षाओं में उठ सकते हैं।

पुनः, यहां लेखक '1' और मेरे विचारों के बीच सत्य और व्यक्ति से उसके संबंध के मसले पर उतना ही अंतर है जितना मुर्गी और अण्डे के बीच होता है। लेखक '1' का मंतव्य यों है- "किसी धर्म के सत्य के पक्ष में कोई साक्ष्य मौजूद नहीं है, इस बात को जानने के लिए जरूरी होता है कि हम पहले प्रतिस्पर्धी धार्मिक-विश्वासों, दावों और अनुभवों की जांच-परख मूल्यांकन के किसी साझे प्रतिमान पर करें। केवल इसी तरीके से हम इस बात को निर्धारित कर सकते हैं कि वस्तुतः कोई भी धर्म सच्चा नहीं है।" दूसरे शब्दों में कहें तो, हमें यह बात सुनिश्चित तौर पर साबित करने की जरूरत है कि कोई भी धर्म दूसरे धर्म से ज्यादा सच नहीं है। मेरा मंतव्य ठीक इसके उल्टा है- "किसी भी धर्म का जिम्मा बनता है कि वह सिर्फ अपने को सच्चा और दूसरे धर्मों को झूठा बताये। किसी निश्चयात्मक प्रमाण के अभाव में एक शिक्षाप्रद तथा ज्ञानमीमांसीय स्थिति यही हो सकती है कि हम 'न जानामि' (अज्ञेयवाद) की मुद्रा अपनायें और आगे मिलने वाले प्रमाणों की संभावना को लेकर अपना मन खुला रखें, लेकिन इस अवधि में किसी खास धर्म-परंपरा को तरजीह न दें।

यदि हम ऊपर के अनुच्छेद में आये उद्धरण को ध्यान से पढ़ें तो किसी एक धर्म-परंपरा अथवा इस धर्म-परंपरा के एक दावे को दूसरे से ज्यादा सच बताने में निहित मुख्य दिक्कत को देखा जा सकता है। लेखक '1' का कहना है कि विभिन्न धार्मिक दावों की सापेक्षिक सत्यता की जांच के लिए हमारे पास मूल्यांकन का साझा प्रतिमान होना चाहिए। यह बात ज्ञानमीमांसीय तौर पर तो ठीक जान पड़ती है, लेकिन व्यवहार के धरातल पर ऐसा होना लगभग असंभव है, क्योंकि सभी धर्म मूल्यांकन के एक प्रतिमान पर राजी होंगे- ऐसा नहीं लगता।

धर्म परंपरा विशिष्ट इसी अर्थ में होती है कि वह 'सत्य' क्या है और इस सत्य की रचना/उत्पादन/उद्घाटन कैसे होता है- के विशिष्ट उत्तर प्रस्तुत करती है। मिसाल के तौर पर हम यहां सामान्यीकरण का खतरा उठाते हुए पश्चिमी दुनिया के एकेश्वरवादी धर्मों के बारे में कह सकते हैं कि वे सत्य को अपनी धर्म-पुस्तक (बाइबिल, कुरान..) में उद्घाटित हुआ मानते हैं। पूर्वी दुनिया की बहुत-सी धर्म-परंपराएं सत्य को बुद्धि का विषय अथवा सार्वजनिक मामला नहीं मानतीं। वे इसे निजी मामला तथा अनुभव से प्राप्त किसी गहरी अंतर्दृष्टि के रूप में देखते हैं। इस तरह अगर एक प्रतिमान चुनकर उस पर सभी धर्मों की परीक्षा करें, तो हम निश्चित ही कुछ धर्म-परंपराओं को शेष पर तरजीह दे रहे होंगे। इसके परिणामस्वरूप कोई भी एक प्रतिमान धर्म-परंपराओं के प्रत्येक के सत्यता संबंधी दावे की परीक्षा समान रूप से नहीं कर सकता।

सत्य की इस चर्चा में हमारे लिए उसकी अनिर्वचनीयता (अकथनीयता) का सवाल यहां प्रासंगिक है। अधिकांश धार्मिक-जन अपनी धर्म-पुस्तकों अथवा धर्माज्ञाओं में उद्घाटित सत्य को अभिधा के बजाय लक्षणा और व्यंजना में समझते हैं। यह बात पूर्वी दुनिया के धर्मों के बारे में विशेष रूप से सच है। ये धर्म बताते हैं कि सत्य 'बुद्धि' मात्र के सहारे नहीं जाना जा सकता। हम 'सत्य' के बारे में प्रतीक और रूपक की भाषा अपनाकर बात कर सकते हैं, लेकिन हम सत्य को यथा तथ्य न तो लिख सकते हैं और न बोल सकते हैं। 'ताओ त्से चिंग' में कहा गया है - 'यदि तुम सत्य को लिख सकते हो तो वह 'ताओ' नहीं है।<sup>18</sup> इसके अतिरिक्त बहुत से धार्मिक-विद्वान और दार्शनिक मानते हैं कि विभिन्न परंपराएं एक ही कथा को अलग-अलग ढंग से कहने का माध्यम हैं।<sup>19</sup> प्रत्येक धर्म परंपरा का पूरी बारीकी से अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि सब का उद्भव एक है; सबके विषय एक हैं।

तो 'सत्य' की अनिर्वचनीयता की इस चर्चा से क्या निष्कर्ष निकलते हैं? जो लोग सत्य को अनिर्वचनीय मानते हैं उनके लिए यह सवाल ही बेमानी है कि कौन-सा धर्म ज्यादा सच्चा है और कौन-सा नहीं है। ऐसे लोग मानते हैं कि सभी धर्म सत्य के बारे में कहने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन उन धर्म-विश्वासों का क्या करेंगे जो मानते हैं कि वे 'सत्य' को जानते हैं और यह भी सोचते हैं कि उनका 'सत्य' दूसरी धर्म परंपराओं के 'सत्य' से मूलभूत रूप में अलग है? सरल शब्दों में कहें तो उन लोगों का क्या करेंगे जो इस बात को लेकर आश्वस्त हैं कि उनके धर्म को छोड़कर बाकी सारे धर्म गलत हैं?

ऐसे लोगों के लिए 'अस्मितापरक चुनौती' एक हद तक

निदान प्रदान करती है। शिक्षक के रूप में हमें छात्रों को बताना चाहिए कि वे सत्य की संभावनाओं के बारे में अपने को खुला रखें। इसके लिए जरूरी होगा कि हम उन छात्रों को- जो सोचते हैं कि उनका धर्म सच्चा है- अपने विश्वास के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करने को कहें और उन्हें अवसर दें ताकि वे दूसरों को अपने धर्म विश्वास की सच्चाई के बारे में आश्वस्त कर सकें। ठीक ऐसा ही काम बाकी शास्त्र-चर्चाओं, बहस-मुबाहिषों में होता है।<sup>20</sup> लेकिन अध्ययन-अध्यापन की इस रीति में यह भी जरूरी है कि शिक्षक छात्रों को बताए कि प्रत्येक छात्र की सत्य-निर्मिति, ज्ञान रचना किसी खास मान्यताओं और सत्य-निर्धारण के किन्हीं खास नियमों पर आधारित है। शिक्षक को यह भी बताना चाहिए कि बाकी धर्म- परंपराएं किस तरह किन्हीं अलग तरीकों से सत्य की निर्मिति करती हैं और यह सत्य भले ही किसी छात्र विशेष द्वारा प्रस्तुत किए गए उसके धर्म-सत्य के अनुकूल न हों, किंतु किसी अन्य धर्म-परंपरा के लिए समान रूप से वैध है। इस रीति को अपनाकर हम सत्य की विविध संभावनाओं के प्रति अपने को खुला रख पायें और जो लोग अपने 'सत्य' को ज्ञेय मानते हैं उनके प्रति आदर भी प्रकट कर रहे होंगे किंतु यहाँ जो लोग सत्य को 'अनिर्वचनीय' मानते हैं उनका निरादर नहीं हो रहा होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो यहां 'अस्मितापरक चुनौती' की जरूरतों को पूरा भी किया जा रहा है, साथ ही हम इस रीति के पालन से धर्म के शिक्षण के मामले में राज्य की भूमिका की भी अनदेखी नहीं कर रहे।

### निष्कर्ष- सहमति के बिन्दु

इस आलेख का मुख्य उद्देश्य रहा है यह जानना कि क्या धर्म के अध्ययन को सरकारी-स्कूलों में जगह दी जाय और अगर दी जाती है तो क्या धार्मिक-शिक्षा में 'सत्य' के सवालों का भी समाधान किया जाय? सत्य के सवाल को परे रखकर अगर धर्म के अध्ययन को सरकारी स्कूलों में शामिल किया जाता है तो वह अपने आप धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन बन जाता है। लेखक '1' ने कुछ कारणों को गिनाते हुए बताया है कि धर्म के अध्ययन में सत्य के सवाल को परे रखने से कुछ परेशानियाँ खड़ी हो सकती हैं? लेखक '2' ने इस चुनौती का जवाब देते हुए उन परेशानियों का जिक्र किया है जो सत्य के सवाल को परे नहीं करने से खड़ी हो सकती हैं।

ये दोनों तर्क परस्पर विरोधी और बेमेल नजर आते हैं, किंतु हमारे बीच 'सहमति के कुछ साझे बिन्दु भी हैं। सरकारी स्कूलों में धर्म के अध्ययन का समुचित रूप क्या है- इस मामले में हमारे विचार अलग-अलग हैं, किंतु हम दोनों के बीच इस मामले पर कुछ

सहमति भी है कि धर्म की पढ़ाई स्कूलों में कैसे इस तरह की जाय कि उससे विभिन्न धर्म-विश्वासों का आदर हो और साथ ही वह सरकार द्वारा प्रदत्त शिक्षा की जरूरतों के अनुरूप हो। आलेख के इस निष्कर्ष वाले खंड में हम उन बातों की चर्चा करेंगे जिन पर हमारे बीच सहमति है और उन मसलों का भी रेखांकन करेंगे जो हमारी समझ में और ज्यादा विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखते हैं।

हमारी बहस का शुरूआती मुद्दा यह था कि क्या विभिन्न दावों की सच्चाई की परख के लिए कोई सर्व-सामान्य प्रतिमान ढूंढा जा सकता है? दोनों लेखकों की राय है कि हम यह मानकर नहीं चल सकते कि ऐसे प्रतिमान को खोजना असंभव है और हम यह भी नहीं मान सकते कि धर्म में कोई सच्चाई नहीं है। लेखक '2' स्पष्टतया ऐसे प्रतिमान की प्राप्ति के संबंध में और इस प्रतिमान की 'शिक्षा' के संदर्भ में उत्पन्न निहितार्थों को लेकर ज्यादा शंकित है। किंतु दोनों लेखक इस बात पर सहमत हैं कि हमें- 'सर्व-सामान्य' प्रतिमान क्या हों- इस मुद्दे पर ज्यादा बारीकी से खोज-बीन करनी चाहिए। हमने इस आलेख के आरंभ में ही बता दिया था कि नीतिशास्त्र के क्षेत्र में इस दिशा में थोड़ी प्रगति हुई है और इस प्रगति से यह आशा बंधती है कि 'धर्म' के क्षेत्र में भी ऐसी ही कोई बात संभव हो सकती है।

दूसरे, दोनों लेखक इस बात पर सहमत हैं कि विभिन्न धार्मिक-विश्वासों के मूल्यांकन में सही चिंतन का प्रतिमान क्या हो, इसके समाधान में पाँच द्वारा प्रस्तुत सत्यता की धारणा एक उपयोगी रूपरेखा सिद्ध हो सकती है, इस 'रूपरेखा' के दायरे में हमें उन परीक्षणों को तलाशने की जरूरत है, जिसके सहारे किसी धार्मिक-विश्वास की सच्चाई की जांच की जा सके और जिस जांच पर विभिन्न धर्म-परंपराओं के लोगों के बीच सहमति हो। इस प्रयास में चार्ल्स टेलर के लेख 'अस्मिता की राजनीति' में वर्णित 'विचार-प्रस्थानों के मेल' से मदद मिल सकती है।<sup>21</sup>

तीसरे, दोनों ही लेखक इस बात पर सहमत हैं कि नॉडिंग्स का 'बोधगम्य विश्वास' का प्रस्ताव महत्वपूर्ण है, हालांकि हम नॉडिंग्स द्वारा प्रस्तावित उस प्रतिमान से सहमत नहीं हैं, जिसके

आधार पर किसी विश्वास को 'बोधगम्य' ठहराया जा सके। बोधगम्य विश्वास की संकल्पना में लेखक '1' को सत्य के दावों को स्थापित करने का एक संभावनी रास्ता नजर आता है। लेखक '2' इसे 'सत्य' को स्थापित करने की कसौटी के रूप में तो नहीं देखता, लेकिन इसे कक्षा में धार्मिक-विश्वास तथा दावों के ऊपर एक विचारपूर्ण एवम् आलोचनात्मक चर्चा के लिए उपयोगी रूपरेखा के तौर पर स्वीकार करता है।

इस परियोजना की संभावना और वांछनीयता के बारे में सवाल शेष रह जाते हैं। क्या हम सचमुच सरकारी स्कूलों में धर्म को एक विषय के तौर पर पढ़ाना चाहते हैं? अगर ऐसा है, तो 'सत्य' के सवाल धर्म के अध्ययन-अध्यापन में सर्वप्रमुख होने चाहिए? बहुत से धार्मिक लोग अन्य विश्वासों को जिस भाव से ग्रहण करते हैं, उस भाव से धार्मिक विश्वासों को नहीं। धार्मिक-विश्वासों से उनका लगाव दूसरी तरह का होता है। इसे देखते हुए क्या छात्र के धार्मिक विश्वासों की आलोचनात्मक समीक्षा सचमुच फायदेमंद है? दूसरे शब्दों में, सत्य का अनुसंधान तथा आलोचनात्मक चिंतन पर जोर देना सरकारी शिक्षा का बुनियादी लक्षण है, तो क्या ऐसी स्थिति में धर्म को हम एक विशेष विषय मानकर ग्रहण करें जिसके साथ शेष विषयों की तरह बरताव न हो। यदि हम यह स्वीकार करें कि धार्मिक-सत्य का मूल्यांकन जरूरी है तो फिर यह काम कैसे किया जाय? क्या सभी धर्मों के दावों को एक साथ लेकर किसी एक सामान्य प्रतिमान पर परखा जाये,

संभवतः एक उपयोगी समाधान यह हो सकता है कि धर्म-विषयक पढ़ाई में सत्य को परखने के लिए जरूरी प्रतिमान के विषय में जो वाद-विवाद मौजूद है उन्हीं को विषय बनाया जाय। इससे प्रतीत होगा कि हम धर्म के प्रति तुलनात्मक नजरिया अपना रहे हैं। किंतु ऐसे में सिर्फ विभिन्न धार्मिक-परंपराओं के विश्वासों और दावों की चर्चा मात्र नहीं होगी, बल्कि हम यह भी जान रहे होंगे कि कैसे विभिन्न परंपराओं में सत्य की निर्मिति हुई है और उनके सापेक्षिक गुण क्या हैं?

अथवा अलग-अलग किस्म के धार्मिक-दावों की अलहदा पहचान बेहतर होगी? इस क्रम में हम चाहे जो विकल्प स्वीकार करें, मूल्यांकन के प्रतिमान (अथवा का प्रतिमान) क्या होंगे/होगा? इन प्रश्नों के कारण कठिनाइयां उठ खड़ी होती हैं। तो भी, जैसा कि लेखक '1' ने बताया है- अस्मितापरक चुनौती इस बात पर महत्वपूर्ण रूप से ध्यान दिलाती है कि धर्म के मामले में सत्य के सवाल को परे रखने के क्या खतरे हैं?

अपनी चर्चा के अंत में बतौर निष्कर्ष हमारा निवेदन यह है कि कोई बीच का रास्ता अख्तियार किया जाय, जिससे पक्ष-विपक्ष

की तनातनी खत्म हो सके। सरकारी स्कूलों में धर्म की कोई भी पढ़ाई इस इच्छा को जन्म देगी कि धार्मिक दावों और विश्वासों की सत्यता परखी जाय; लेकिन जैसा हमने देखा कि इस तरह की चर्चा के अपने खतरे भी हैं। संभवतः एक उपयोगी समाधान यह हो सकता है कि धर्म-विषयक पढ़ाई में सत्य को परखने के लिए जरूरी प्रतिमान के विषय में जो वाद-विवाद मौजूद है उन्हीं को विषय बनाया जाय। इससे प्रतीत होगा कि हम धर्म के प्रति तुलनात्मक नजरिया अपना रहे हैं। किंतु ऐसे में सिर्फ विभिन्न धार्मिक-परंपराओं के विश्वासों और दावों की चर्चा मात्र नहीं होगी, बल्कि हम यह भी जान रहे होंगे कि कैसे विभिन्न परंपराओं में सत्य की निर्मित हुई है और उनके सापेक्षिक गुण क्या हैं? शिक्षक, राज्य के प्रतिनिधि के रूप में ऐसी चर्चा में तटस्थ रहें, किंतु छात्रों को अपनी बात कहने की छूट हो, साथ ही उन्हें एक-दूसरे के तर्कों के प्रतिवाद की भी अनुमति दी जाय। जो छात्र धर्म के बारे में अभिधा में सोचते हैं (अर्थात् यह सोचते हैं कि धर्म की सच्चाई का हमें ज्ञान है और यह सच्चाई दूसरों के विचार से मेल नहीं खाती) वे अपने पक्ष में तर्क देंगे, अस्मितापरक चुनौती को इस तरह उत्तर दिया जा सकेगा, किंतु यहाँ उत्तर इस तरह से दिया जा रहा है कि शिक्षक को सत्य के मूल्यांकन की कसौटी बलात् थोपनी नहीं पड़ रही है।

● **सुजेन रॉजेनब्लिथ**, क्लेमसन यूनिवर्सिटी (407 ए, टिलमैन हॉल, क्लेमसन, एससी- 29634) के एजुकेशनल फाउंडेशन में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। उनकी रुचि और गति के मुख्य क्षेत्र हैं - धर्म, ज्ञानमीमांसा तथा सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत।

● **स्काट प्रिस्टमैन**, युनिवर्सिटी ऑफ ब्रिटिश कोलंबिया (2125 मेन मॉल, वैकूवर, बीसी वी6टी जेड4, कनाडा) के डिपार्टमेंट ऑफ एजुकेशनल स्टडीज में 'डॉक्टरेट' के लिए शोधरत हैं। उनकी रुचि और गति के मुख्य क्षेत्र हैं - नैतिक शिक्षा, शिक्षा-दर्शन तथा व्यवहारिक नीतिशास्त्र। ◆

### सन्दर्भ सूची

- उदाहरण के लिए, ज्यूरगेन हेबरमास की "डिस्कॉर्स एथिक्स: नोट्स ऑन ए प्रोग्राम ऑफ फिलॉसॉफिकल जस्टिफिकेशन" इन मोरल कॉन्सियसनेस एण्ड कम्यूनिकेटिव एक्शन : कैम्ब्रिज, एम आई टी प्रेस 1990, पृष्ठ - 43-115 देखें।
- वारेन नॉर्ड, 'रिलीजन एण्ड अमेरिकन एज्यूकेशन : रिथिंकिंग ए नेशनल डायलॉग', चैपलहिल : यूनिवर्सिटी ऑफ नॉर्थ कैरोलिना प्रेस 1995, पृष्ठ 2.
- जॉन बुकानन, स्टीफन एल. कार्टर की पुस्तक द कल्चर ऑफ डिस्बिलीफ : हॉऊ अमेरिकन लॉ एण्ड पॉलिटिक्स ट्रिवायलाईज अमेरिकन डिवोशन से उद्धृत, न्यूयॉर्क, डबलडे, 1993, पृष्ठ 207.
- फ्रांसिस क्रैग, 'रिलीजन, एज्यूकेशन एण्ड द स्टेट : द कन्ट्रास्टिंग व्यू ऑफ जेम्स डूवेयर एण्ड वॉरेन नॉर्ड', लॉ एण्ड सोशल इन्क्वायरी 25 संख्या 3, 2000 पृष्ठ 939-942.
- यह, शायद, एक भिन्न प्रकार की 'दीक्षण' नामक समस्या खड़ी करे।
- नॉर्ड, रिलीजन एण्ड अमेरिकन एज्यूकेशन, और नेल नॉर्डिंग्स, एज्यूकेशन फॉर इन्टेलिजेन्ट विलीफ ऑर अनबिलीफ, न्यूयॉर्क ; टीचर्स कॉलेज प्रेस, 1993
- नॉर्ड, रिलीजन एण्ड अमेरिकन एज्यूकेशन, 190.
- वहीं, पृष्ठ 181
- नॉर्डिंग्स, एज्यूकेटिंग फॉर इन्टेलिजेन्ट विलीफ और अनबिलीफ, पृष्ठ 2.
- वहीं, पृष्ठ 7.
- जॉन हिक, एन इन्टरप्रेटेशन ऑफ रिलीजन, न्यू हेवेन : येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1989, 234.
- पीटर गार्डनर, "रिलीजियस अपब्रिगिंग एण्ड द लिबरल आइडियल ऑफ रिलीजियस ऑटोनॉमी", जरनल ऑफ फिलॉसोफी ऑफ एज्यूकेशन 22, सं-1, 1988, पृष्ठ 93.
- चाल्स टेलर का निबन्ध "द पोलिटिक्स ऑफ रिक्वॉग्नीशन", इन मल्टीकल्चरलिज्म, संपादक एमीगटमेन, पिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994 तथा नेन्सी फ्रेशर, जस्टिस इन्टरपर्टल, क्रिटिकल रिफ्लेक्शन्स ऑन द, "पोस्ट सोशललिस्ट" कंडीशन न्यूयॉर्क, रूटलेज 1997 देखें।
- उदाहरणार्थ मॉजेज मैमोनाइड्स, सेन्ट थॉमस एकानास, सेन्ट अन्सलेम, साध्य गांव, गैरसोनाइड्स, सेन्ट ऑगस्टाइन, फिलो और अबू नासर अल-फराबी जैसे धार्मिक विचारकों और दार्शनिकों की रचनाएं देखें।
- बहुत से लोग इस बात से खुश हैं कि राज्य अपनी सीमाओं को लांघकर लोगों के मन में धार्मिक मामलों को लेकर संदेह पैदा करता है।
- इजरायल शौफ्लर, "फिलॉसॉफिकल मॉडल ऑफ टीचिंग", इन फिलॉसोफी ऑफ एज्यूकेशन, द्वितीय संस्करण, बोस्टन, एलीन एण्ड बेकन, 1966 पृष्ठ 99-114.
- कार्ल पॉपर, द लौजिक ऑफ साइन्टिफिक डिस्कवरी, न्यूयॉर्क, बेसिक बुक्स, 1959
- ऐसी भावनाएं पश्चिम में भी पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, सेन्ट जॉन ऑफ द क्रोस, डार्क नाइट ऑफ द सॉल, अनुवादक एवं संपादक ई. ऐलिशनपियर्स, न्यूयॉर्क, डबलडे, 1990 की रहस्यवादी ईसाई कविताओं में।
- जॉन हिक, फिलॉसॉफी ऑफ रिलीजन, इंगलवुड क्लिफ्स, न्यूजर्सी प्रेन्टिस हॉल, 1990 पृष्ठ 109-119 और हॉस्टन स्मिथ, द वर्ल्ड'स रिलीजन्स, सैन फ्रांसिसको, हार्पर कॉलिन्स, 1991 देखें।
- वास्तव में यह तभी आवश्यक होगा जब हमारे स्कूलों में ऐसा धार्मिक शिक्षण हो और सत्य का सवाल उठे। अगर कोई यह विश्वास नहीं करता कि ऐसी चर्चाओं का स्कूल में कोई स्थान नहीं है तो मैंने इस अनुच्छेद में जो जरूरतें बतायी हैं लागू नहीं होंगी।
- टेलर, "द पोलिटिक्स ऑफ रिक्वॉग्नीशन".